तकनीक के खंडहर

एक हिंदुस्तानी कहानी

रवि सुंदरम

मैं पहली बार 1972 में दिल्ली आया था। उस समय मैंने जो कुछ यहाँ देखा था, उसमें से इस शहर की दो तस्वीरें हमेशा के लिए मेरी यादों का हिस्सा बन चुकी हैं। पहली तस्वीर पुराने शहर में स्थित लाल क़िले की थी, जो एक ज़माने में बेशक मुग़लों की शान की निशानी रहा होगा, पर अब अपनी ताब खोता जा रहा था। इसकी चेचकरू दीवारों पर बने गड्ढे और ख़राशें उन्नीसवीं सदी में हुई उस लूटमार की कहानी कह रही थीं, जिसने एक ज़माने में लाल क़िले को रौनक बख़्शने वाले पत्थर और नगीनों को हमेशा के लिए इससे जुदा कर दिया। दिल्ली की मेरी उस पहली यात्रा की जो दूसरी तस्वीर ज़ेहन में उभरती है वह भारत की पहली "अंतर्राष्ट्रीय" प्रदर्शनी, एशिया 72 की है। यह प्रदर्शनी नए-नए बने उसी प्रगति मैदान में लगी थी जो इसके बाद न जाने कितनी और नुमाइशों और मेलों का मरकज़ रहा है। एशिया 72 में पश्चिमी मुल्कों की वैज्ञानिक तरक़्क़ी के एक-से-एक नायाब नमूने तो थे ही साथ ही राष्ट्रवादी मुलम्मे में लिपटी हमारे अपने अंतरिक्ष कार्यक्रम, आणविक शक्ति और स्टील मिलों की नुमाइशें भी थीं।

एशिया 72 में उन्नीसवीं सदी के उस चेहरे — लंदन के क्रिस्टल पैलेस, पेरिस और शिकागो के विश्व मेले — की झलक दिखती थी, जिसने आधुनिकता को न केवल दुनिया के फ़लक पर नुमायाँ किया था बल्कि, "चिरयुवा" रूप में उतार दिया था। प्रदर्शनी में दर्शकों को जैसी स्मारकीयता और सपने-जैसी हैरत का अहसास होता था, जिसे एक बार वॉल्टर बेंयामिन ने "पूँजीवाद के लोक त्योहारों" का नाम दिया था, उसकी तुलना '72 में हुई इस प्रदर्शनी के बारे में हमारे अनुभवों से की जा सकती थी। राष्ट्रवादी ताक़त एकदम क़ुदरती सी लगने लगी थी, यहाँ तक कि मेरे जैसे नौ साल के बच्चे को भी।

ये वो दौर था जब राज्य की सत्ता एक दी हुई वास्तविकता थीः उसके पास वैधता भी थी और वह आम शहरियों की रोज़मर्रा ज़िदगी में अहसास के स्तर पर लगातार दिखाई भी देती थी। अपने पिताजी की उंगली पकड़ कर रेडियो लाइसेंस फ़ीस जमा करवाने के लिए हर साल डाकख़ाने जाना मुझे अभी भी याद है। कॉङ्ग्रेस पार्टी के राष्ट्रवादी शासन की वैधता की व्यापक स्वीकृति रोज़मर्रा की तमाम गतिविधियों में स्वाभाविक रूप से दिखाई देती थी, और लोगों के ज़ेहन में इस शासन की वैधता को जिस क़िस्म की मंज़ूरी हासिल थी उसे याद करने पर एक हैरानी सी होती है। कम से कम शहरों और क़स्बों में लोग बिजली के बिल, रेडियो फ़ीस वग़ैरह नियम से चुकाते थे और नई-नई विकास योजनाओं के लिए सरकार के पास दरख़्वास्तें लगाते रहते थे। उस समय जो थोड़ी बहुत अवज्ञा या नाफ़रमानी दिखाई भी देती थी, वह रोज़-ब-रोज़ ज़िंदगी का कम और सियासी पैंतरेबाज़ी का हिस्सा ज़्यादा थी।

आज़ादी के बाद पहले दो दशक नए प्रौद्योगिकीय लक्ष्यों के निर्धारण के साल थे। इन लक्ष्यों को बड़ी-बड़ी विकास योजनाओं — सोवियत ढर्रे पर बनी पंचवर्षीय योजनाओं, राउरकेला और भिलाई में बनी इस्पात मिलों, हज़ारों को विस्थापित करने वाली विशाल बाँध परियोजनाओं और बिजली घरों की तामीर के ज़रिए अंजाम दिया जाना था। यही दौर था जब नेहरू ने भारत की पहली 'आधुनिक' राजधानी, चंडीगढ़ को वजूद में लाने के लिए ल कॉर्बुज़िए को भारत बुलाया था। भारत की परंपरागत निर्माण शैलियों और शहरी संस्कृतियों से जानबूझकर अलग ढंग से बनाया और बसाया गया चंड़ीगढ़ शहर 1920 के दशक के यूरोपियाई अवाँ गार्द की तरह पुराने का मज़ाक सा उड़ाता दिखता था। इस तरह, इस शहर के आस-पड़ोस की पहचान नामों से नहीं बल्कि गिनतियों से होती थी। एक तरह से देखें तो चंडीगढ़ नेहरू की उस विकासात्मक आधुनिकता का शहरी संस्करण था जिसे वह साकार करने में कामयाब नहीं हो पाए। उनकी इस अधिकल्पना में गाँव की तमाम अस्पष्टताओं के लिए कोई जगह नहीं होनी थी और पूज्य वस्तु जैसी हैसियत वाले तकनीकी स्मारक "विकास" की ओर संक्रमण की ज़मानत थे।

नेहरूवादी सियासी वर्ग आधुनिकता के लिए जैसी बेताबी दिखा रहा था वह सत्तर के दशक तक आते-आते लगातार नाकामयाब होने लगी थी। इस दौर में पल रहे बच्चों के बतौर, हम लोगों को पिछले दो दशकों के इतिहास की ख़ुराक रोज़ ही पिलाई जाती थी। इतिहास का यह सबक़ अकसर हरेक फ़िल्म शो के शुरू में लाज़िमी तौर पर दिखाई जाने वाली न्यूज़रील[1] के ज़रिए, अख़बारों और सरकारी रेडियो पर चलने वाले अभियानों के ज़रिए पढ़ाया जाता था। इस पूरे प्रचार को एक ख़ास शब्दाडंबर में पेश किया जाता था, जो 1975-77 के सालों में लगी इमरजेंसी के दौरान अपने चरम पर था। इमरजेंसी के दौरान हर तरफ़ डर और आतंक का माहौल था। यह डर काफ़ी हद तक सरकार की जनसंख्या नियंत्रण मुहिम के तौर पर शहरों में हज़ारों मेहनतकश नौजवानों की जबरिया नसबंदी से भी पैदा हुआ था। 1977 में कॉङ्ग्रेस को केंद्रीय सत्ता से हटा दिया गया और व्यापक असंतोष ने अतीत के तकनीकी वृत्तांतों को इतिहास के कूड़ेदान में फेंक दिया। सिनेमाघरों में न्यूज़रीलें चलना बंद हो गईं और तकनीकी स्वप्नचिन्ह : बाँध, स्टील मिलें, और दूसरी बड़ी परियोजनाएं, प्रगति के प्रतीक नहीं बल्कि इस असंतोष का केंद्र बन गए।

बाद के दशकों में बदलाव की रफ़्तार काफी तेज़ रही है। इस संक्रमण की गति और पुराने तकनीकी राष्ट्रवादी सपने के संकट को एक साधारण से उदाहरण से समझा जा सकता है। जब मैं कुछ साल पहले एक बार फिर प्रगति मैदान गया तो वहाँ 1972 में प्रशंसा भरी भीड़ को अपनी ओर खींचने वाले नव-भविष्यवादी प्रदर्शनी स्थलों के लिए कोई जगह नहीं थी। उनकी जगह उपभोक्ता सामानों के बेजान, बल्कि भद्दे बिक्री कांउटरों ने ले ली थी। ज़्यादातर दर्शक बाहर से आने वाले सैलानी थे जो भारी-भारी छूटों की उम्मीद में यहाँ-वहाँ झाँक रहे थे। पूरे माहौल की नीरसता ने अनायास ही मेरी पुरानी यादें ताज़ा करा दीं। इन यादों में पिछले दो दशकों के बदलाव की बेचैनी थी, जिसके एक सिरे पर 1972 की पुरानी भीड़ थी तो दूसरी तरफ़ औद्योगिक स्वप्न जगत को देखती ये उद्देश्यहीन आँखें थीं।

आज़ादी के बाद पहले कुछ दशकों के दौरान राज्य की प्रौद्योगिकीय सत्ता हेनरी लेफ़ेव्र के कथित अवधारणात्मक परिक्षेत्र, अमूर्त सत्ता के प्रातिनिधिक परिक्षेत्र के ज़रिए वजूद में आई थी। इसका स्वरूप एकदम स्मारकीय था और जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, इसे स्टील मिलों, बिजली घरों, बाँधों, और राष्ट्रीय प्रगति की ऐसी ही दूसरी

सपनीली तस्वीरों में आकार मिल रहा था। अपनी भौतिकता के बावजूद ये ऐसे परिक्षेत्र थे जहाँ प्रौद्योगिकीयता का अंश यथार्थ के अनुभवों से कटा हुआ था। मगर, 1990 के सालों में नए विश्वायन के बाद यह नज़ारा आमूल रूप से बदल गया।[2] विश्वायन ने भारत के शहरों की रोज़मर्रा ज़िंदगी को पूरी तरह बदल दिया और इसके झटकों के असर में राज्य के नेटवर्क के बरक्स नए-नए नेटवर्क वजूद में आने लगे। ये नेटवर्क उन नव-संचार परिक्षेत्रों के प्रवाह के भीतर और उसके ज़रिए ही पैदा हुए थे जो खुद अपने आप में ही असंगठित, बेतरतीब और बिखरे हुए हैं। इस दौरान केबल टेलीविज़न आया जिसके तार पास-पड़ोस में रहने वाले बेरोज़गार युवाओं ने खींचे थे, एक लंबा चौड़ा grey कम्प्यूटर बाज़ार फलने-फूलने लगा और सड़क किनारे बने बीड़ी-सिगरेट के खोखों के ज़रिए संगीत के जाली कैसेटों का फैलाव हुआ। लाखों की तादाद में और हर मोहल्ले-पड़ोस में आ जमी पब्लिक टेलीफ़ोन दुकानें पहले कम्प्यूटर-पहुँच-केंद्र और बाद में इंटरनेट केंद्र बन गईं। इस तरह, जहाँ एक तरफ़ मीडिया विश्वायन का असर आभासी परिधियों में दैनिक जीवन पर भी महसूस होने लगा था वहीं शहर की सड़कों पर खुलने वाली कम्प्यूटर, मल्टीमीडिया और फ़ोन की दुकानों पर तो इसे साफ़ देखा जा सकता था।

जिस लाल क़िले की भव्यता और उसके बेजान होते जाने की यादें बचपन से मेरे ज़ेहन में चस्पाँ हैं, उसी के ऐन सामने लाजपत राय मार्केट है जो एशिया में नक़ली इलेक्ट्रॉनिक सामानों के सबसे बड़े बाज़ारों में शुमार होता है। अस्सी के दशक के आख़िरी सालों में सस्ते डिश एंटीनाओं का निर्माण करके इस बाज़ार ने केबल टेलीविज़न उद्योग को अचानक दूर-दूर तक फैला दिया था। इन एंटीनाओं को देश भर के डीलरों ने हाथों हाथ ख़रीद लिया। आज यह बाज़ार, गली-मोहल्लों में बजने वाले डीजे के लिए म्यूज़िक सिस्टम्स, टेलीविज़न और वीएचएस प्लेयर, नक़ली संगीत, वीडियो और डीवीडी, कैमरे और हज़ारों दूसरे इलेक्ट्रॉनिक सामान मुहैया कराता है। यहाँ सारा लेन देन नगद में होता है और ज़्यादातर चीज़ें शहर के इर्द-गिर्द ही स्थित अवैध/grey फ़ैक्ट्रियों में बनती हैं। घनी, बेतरतीब और फटेहाल — ये जगह दिल्ली के अभिजनों के ख़यालों में तैरने वाले रंगीन इन्फ़ोटेक यूटोपिया से भी और पुराने दौर के राष्ट्रवादी सपनों के अमूर्त तकनीकी स्मारकों से भी कोसों दूर है।

इस जगह में एक ख़ास क़िस्म का सामंजस्य है। यहाँ भारत में मौजूद प्रौद्योगिकीयता के सारे पहलू एक साथ दिखाई देते हैंः पुराना और नया संचार, स्पर्शनीयता और विकर्षण, सघनता और बिखराव, तबाही और सपने। इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति के इन नए नेटवर्कों की ख़ासियत ये है कि इनमें ग़ैर-क़ानूनी तौर-तरीक़ों की चाह कुछ ज़्यादा ही है। यह एक हद तक शहर के, और इलाक़े या बस्तियों के दैनिक दायरों से राज्य के निकलते चले जाने के कारण भी हुआ है। असल में, कुल मिला कर राज्य इख़लाक़ी पुलिसिये की तरह अपनी गाहे-बगाहे और मोटे तौर पर बेअसर दखलंदाज़ी के बावजूद, बग़ल में खड़े भ्रष्ट दर्शक की हैसियत में जा पहुँचा है।

यहाँ ग़ैर-क़ानूनीपन से हमारी मुराद उन हज़ारों ग़ैरपंजीकृत सेवा प्रदाताओं, फिल्म, संगीत और केबल टेलीविज़न की समानांतर संस्कृति और कम्प्यूटर उद्योग के उस grey market से है जो हमारे पास-पड़ोस के इलाक़ों में व्यापारिक गतिविधियों के नए उभरे केंद्रों से संचालित होते हैं। विडंबना ये है कि इन ग़ैर-क़ानूनी क़िस्म के तौर-तरीक़ों और गतिविधियों ने दिल्ली में इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति के नाटकीय फैलाव में भारी योगदान दिया है और अधिकतर शहरों का सेवा क्षेत्र इसी दम पर खड़ा हुआ है। वैसे तो यह ग़ैर-क़ानूनी और सड़कछाप संस्कृति विश्वायन से बाद के दौर में सभी शहरों की ख़ासियत रही है पर भारत में इसकी एक और ख़ासियत ये है कि यहाँ न केवल इसकी तादाद बहुत बड़ी है बल्कि इसमें एक ख़ास क़िस्म की गतिशीलता है जिसके ज़रिए वह पहले से मौजूद ढाँचे के भीतर ही नए-नए रूप लेती रही है। लगातार बढ़ता ग़ैर-क़ानूनी गतिविधियों का फैलाव भारत में उत्तर विश्वायन दौर में शहरी संक्रमण का सबसे महत्वपूर्ण आधार रहा है। इस संक्रमण का स्वरूप पूर्वी एशियाई अर्थव्यवस्थाओं की तरह अचंभित कर देने वाले लंबवत निर्माण जैसा नहीं रहा है बल्कि यह कुल मिला कर सपाट क़िस्म का फैलाव रहा है। इसमें ठेकेदारों और छोटे कारोबार से लेकर झुग्गी-झोंपड़ी और निजी नागरिकों तक तमाम क़िस्म के निहित स्वार्थों ने सरकारी और निजी भू-क्षेत्रों पर सतत क़ब्ज़ा किया है।

उत्तर विश्वायन भारतीय शहरी परिदृश्य दरअसल उस क्षेत्र के ज़रिए रूपांतरित हुआ है जिसे क्लासिकल मार्क्सवाद में उसकी ख़ास अवमाननाजनक भाषा में छोटे माल उत्पादन के नाम से जाना जाता है। पर मार्क्स इस

बात को नहीं देख सकते थे कि शहरों और क़स्बों में इस क्षेत्र का एक बहुत बड़ा हिस्सा इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति के प्रसार में और शहर के बाशिंदों को नवसंचार सेवाएँ मुहैया कराने में मुब्तिला है। रेशा-रेशा दर से ग़ैर-क़ानूनी विस्तार की रणनीतियों के जरिए, इस क्षेत्र ने रोज़मर्रा ज़िंदगी के फ़लक पर उत्तर विश्वायन सघनता पैदा करते हुए उसे पूरी तरह बदल दिया है।

इस बदलाव के बाद पहली बात तो यह हुई है कि जिन व्यावसायिक क्षेत्रों को राष्ट्रवादी राज्य ने खड़ा किया था उन्हें पुनर्गठित और रूपांतरित कर दिया गया है। मसलन, नेहरू प्लेस को ही लीजिए। दिल्ली विकास प्राधिकरण ने इस विशाल व्यावसायिक क्षेत्र को इस सोच के साथ विकसित किया था कि यह आने वाले सालों में दिल्ली के कारोबारी ज़िले का केंद्र बनेगा। जब मैं अपने पुराने 386 कम्प्यूटर के लिए कुछ पुर्ज़े ख़रीदने के लिए पहली बार नेहरू प्लेस गया तो मैंने देखा कि पुराना व्यावसायिक क्षेत्र तो यहाँ से कब का ग़ायब हो चुका था और उसकी जगह अब मोटे तौर पर ग़ैर-क़ानूनी इलेक्ट्रॉनिक क्षेत्र ने ले ली है। उत्तर विश्वायन इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति की ख़ासियत बनती जा रही अवैध घुसपैठ और किराएदारी की परतों के भीतर, नेहरू प्लेस पर अब तरह-तरह की क़ानूनी सॉफ़्टवेयर कम्पनियों, कम्प्यूटर पुर्ज़ों के ग़ैर-क़ानूनी जाली बाज़ार और इलेक्ट्रॉनिक सेवाएँ प्रदान करने वाली दुकानों ने क़ब्ज़ा कर लिया है जो सड़क किनारे चलने वाले बाज़ार के साथ सहअस्तित्व में कारोबार करती हैं। राज्य मशीनरी क़ानूनी कारोबारियों के साथ सहअस्तित्व में काम करने वाले जालसाज़ और अवैध धंधेबाज़ों पर छापे मारकर कभी-कभी अपनी ओर से हस्तक्षेप तो करती रहती है पर बाज़ार को रोज़-ब-रोज़ के पैमाने पर नियंत्रित करने में उसकी कोई रुचि नहीं है। आस-पास के शहरों और क़स्बों के छोटे दुकानदारों की ज़्यादातर ज़रूरतों की पूर्ति करने वाला ये बेरौनक़ बाज़ार भारत के सबसे बड़े कम्प्यूटर बाज़ारों में से एक है। नए वैश्विक उत्पादों के विशिष्ट एक-माल बाज़ारों की ऐसी इकाइयाँ भारत के कई दूसरे क्षेत्रों में भी सामने आई हैं। हालाँकि वैश्विक उत्पादों के छोटे-छोटे स्टोर्स की भरमार वाले इस स्वरूप पर आज के समय की छाप बिल्कुल साफ़ दिखाई देती है पर असल में मार्केटिंग का ये चलन हमारे यहाँ औपनिवेशिक शासन के भी पहले से वजूद में रहा है। इस नए घटनाक्रम का रूपात्मक स्वरूप 1990 के वर्षों में केबल टेलीविज़न जैसा रहा है जब लाजपत राय मार्केट केबल टेलीविज़न के पुर्ज़ों के लिए राष्ट्रीय पैमाने पर पहचान बना रहा था।

शहरी परिदृश्य के इस रूपांतरण से उस बाज़ार की याद ज़ेहन में उभरती है जिसे उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद दोनों ने हाशिए पर धकेला था। प्राक-औपनिवेशिक बाज़ारों की तरह इलेक्ट्रॉनिक मार्केट भी राज्य की स्वीकार्यता का दिखावा करते तो दिखाई देते हैं पर असल में मोटे तौर पर उसके नियमन से बाहर ही रहते हैं। बाज़ार के इन दोनों स्वरूपों में जिस तरह छोटे उद्यमियों की भरमार है वैसे ही यहाँ असमानता, अंतरंगता और सघनता भी साफ़ दिखाई देती है। नए बाज़ार उपभोग के एक नए दायरे की निशानी हैं। उपभोग का यह नया दायरा वैश्विक प्रौद्योगिकीय काल में समाहित होते हुए अपने प्राक् औपनिवेशिक पूर्वजों के मुक़ाबले बेहद परिवर्तनशील और जाति-मुक्त क़िस्म की स्वामित्व व्यवस्था प्रस्तुत करता है। ये नए बाज़ार उन परंपरागत व्यावसायिक क्षेत्रों में तो चल ही रहे हैं जिन्हें इन्होंने रूपांतरित कर दिया है परंतु साथ ही ये ज़्यादा सघन और सामान्यतः रिहायशी गली-मोहल्लों में भी चलने लगे हैं। आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी की ख़रीद-फरोख़्त, वितरण और सर्विसिंग एक पुनर्गठित परंतु अभी भी परंपरागत रूप से पहचाने जा सकने वाले बाज़ारों में ही हो रही है — यह तथ्य भारत में तकनीक और पूँजी के संबंधों के बारे में काफ़ी महत्वपूर्ण संकेत करता है। इस अवस्थिति में, तकनीकी-संस्कृति की परिधि स्वतंत्रता के बाद पहली बार स्मारकों के दायरे से बाहर निकलकर वैधानिकता की सीमा पर दैनिक जीवन के एक अहम पहलू के बतौर सड़कों पर आकार ग्रहण करने लगी है।

पूँजी के दिगांतों ने नई इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति की वैश्विक छवियों की बाढ़ को दो क्षेत्रों — आभासी, और शहरी सड़क की परिधियों — में केंद्रित कर दिया है। आभासिकता की परिधि मोटे तौर पर टेलीविज़न, फ़िल्में, और इंटरनेट साइटें हैं परंतु विभिन्न माध्यमों में तकनीक के लगातार बढ़ते संचार के फलस्वरूप ये छवियाँ लगातार एक जैसी होती चली जाती हैं। इस प्रकार टेलीविज़न स्क्रीन वेबसाइट जैसा लगने लगा है और वेबसाइटें मुंम्बइया फ़िल्म पोस्टरों जैसी लगने लगी हैं। इससे प्रतीकात्मकता का एक ऐसा रंगमंच सा पैदा हो जाता है जहाँ नयापन, अतीत के सामाजिक फ़लक से आज़ाद अपने आप में ही साध्य दिखने लगता है।

भारत में विस्तृत शॉपिंग मॉल संस्कृति की ग़ैर-मौजूदगी का नतीजा ये हुआ है कि शहरी दैनिक जीवन में वैश्विक उपभोग का विक्रय सड़क के ज़रिए ही हो रहा है। नई मल्टीमीडिया संस्कृति के मामले में यह बात विशेष रूप से सही है जिसकी सार्वजनिक उपस्थिति मूलतः सड़क पर तमाम तरह की छवियों की भरमार के चलते ही संभव हुई है। देश भर में लैम्प पोस्टों, बस स्टॉप और गली-कूचों में चस्पाँ ये छवियाँ अकसर पॉल वायरिलियो की विज़न मशीन (जहाँ यात्रा करना अब "बिना प्रस्थान का आगमन" भर रह गया है) की मायावी क्षमता से भी हीन होती हैं। बल्कि उनकी ख़ासियत उनकी कार्यात्मकता में है वह शहर के बाशिंदों को सस्ती सेवा अर्थव्यवस्था मुहैया कराने की पेशकश करती दिखाई देती हैं। नएपन के ये कार्यात्मक चिह्न स्थानीय परिदृश्य (locality) के मानचित्र हैं और बाज़ार के अराजकतापूर्ण, असमतल और ग़ैर-विस्तारवादी दृश्य मानचित्र की याद दिलाने के साथ-साथ रोज़मर्रा की उन इलेक्ट्रॉनिक ग़ैर-क़ानूनी गतिविधियों में भी उलझे हुए हैं जिनकी तुलना मिशेल दि सर्त्यू के उन चिह्नों से की जा सकती है जिन पर उन्होंने ख़ुद अपनी पेरिस पर केंद्रित शोध परियोजना में अध्ययन किया था। इस परिधि की समकालीनता उपभोग और आर्थिक संकट के बीच, प्रकृति और कृति के बीच नाज़ुक खिंचाव से युक्त है। शहरी वृद्धि के इन नए क्षेत्रों में सर्वश्रेष्ठ कार्यात्मक संरचनाओं और पुराने नगर विकास प्राधिकरण के बीच असंगति साफ़ दिखाई देती है।

अपने निबंध 'वॉकिंग इन द सिटी' में मिशेल दि सर्त्यू टिप्पणी करते हैं कि "कार्यात्मक संगठन, प्रगति (यानी काल) को अहमियत देकर ऐसी स्थितियाँ पैदा कर देते हैं जिनमें स्वयं शहर, स्वयं स्थान की संभावना ही विस्मृत हो सकती है। इस तरह, वैज्ञानिक और राजनैतिक प्रौद्योगिकी में स्थान एक स्याह धब्बा बनकर रह जाता है।" स्वयं कार्यात्मक भवनों के ध्वंस के बीच से पैदा होकर जालसाज़ इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति ने इन भवनों पर अनिर्धार्यता की गहरी परतें चढ़ा दी हैं जहाँ प्रवाह ने व्यवस्था की मूल चाह को ही रूपांतरित कर दिया है। बहरहाल यहाँ दि सर्त्यू की रचना सापेक्षता की संभावना से कहीं अधिक उपयोगी है। दि सर्त्यू की रचनाओं में "प्रतिरोध" हमेशा एक प्रच्छन्न प्रसंग के रूप में मौजूद रहा हैः मिसाल के तौर पर उनकी मीनार और सड़क की तुलना को लीजिए जिसमें सड़क शहरी बाशिंदों की "अतिक्रमण" रणनीति का आधार रही है।

भारतीय संदर्भ में, जाली इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति से जो तौर-तरीक़े विकसित हुए हैं, "प्रतिरोध" के बारे में वह अभी भी बहुत स्पष्ट नहीं हैं। यहाँ अवज्ञा स्थानीय वस्तु विनिमय श्रृंखला और बाज़ारों के ज़रिए ज़्यादा उभरती है जिसके चलते दि सर्त्यू की रचनाओं के शहरी वासियों की रणनीतियों और पैंतरेबाज़ी में दिखाई पड़ने वाला क्षीण मुक्तिकामी स्पंदन यहाँ दिखाई नहीं देता। वस्तुतः ये वे परिधियाँ नहीं हैं जो राजधानी की चौहद्दी पर स्थित बाज़ारी जीवन के भ्रष्टाचार और चालबाज़ी से मुक्त हैं। असल, में इनकी यह बुनावट ही है जो इनके रूपांतरण में ऐसा लचीलापन पैदा करती है।

एक अच्छी खासी मॉल संस्कृति पैदा करने में स्थैतिक सीमाओं के अलावा, भारत में प्रदर्शन (display) के किसी भी कार्यक्रम की समस्या का एक हिस्सा असमताओं की तीखी सन्धि से पैदा होता है, जो शहर में लगभग एक दूसरे से सटी रहती हैं। झुग्गियाँ और क़ानून सम्मत आवासीय योजनाएँ हिंदुस्तान के अधिकांश शहरी परिवेश में एक साथ देखी जा सकती हैं। यह स्थिति मुम्बई जैसे शहरों में कुछ ख़ास ही तीव्रता से दिखाई देती है। शहरी भारत में ग़रीबों की राजनैतिक उपस्थिति क्षीण नहीं है और यह कई बार संघर्षों और ज़मीन पर क़ब्ज़ों के ज़रिए तो कई बार संरक्षण के ज़रिए अभिव्यक्त होती रहती है। संरक्षण के चलते व्यापक, ग़रीबों के अवैध क़ब्ज़ों को ढहाने के लिए चलाए जाने वाले डिमॉलिशन अभियानों को चला पाना कठिन हो जाता है, हालाँकि न्यायालयों द्वारा बेघरों के क़ानूनन विस्थापन के चलते अब यह स्थिति संभवतः नहीं रहेगी।

वाल्टर बेंयामिन ने अपने निबंध 'द वर्क ऑफ़ आर्ट इन दि एज ऑफ़ मेकैनिकल रिप्रोडक्शन' में लिखा थाः "अपने नज़दीकी दायरे में मौजूद किसी साम्य चीज़ को, उसके पुनरुत्पादन के ज़रिए क़ब्ज़े में लेने की चाहत दिन पर दिन और मज़बूत होती जाती है। शहरी भारत के विशाल जाली इलेक्ट्रॉनिक क्षेत्र के भीतर, आधुनिकता की चाह कालिक (temporal) त्वरण के एक नए संबंध से पैदा होती है। जहाँ एक तरफ़ अतीत में यह चाह विकास के अमूर्तनों में समाहित होती थी वहीं इलेक्ट्रॉनिक परिक्षेत्र के समकालीन विश्व ने न केवल माल परिक्षेत्रों से संपृक्त, आभासिकता के नए स्वप्न विश्व का निर्माण कर दिया है बल्कि इसने गत्यात्मकता का आश्वासन भी दिला दिया

है। एक ऐसे नए जीवन-जगत का उदय, जिसमें औद्योगिक उत्पादों की बहुलता प्राकृतिक प्रतिनिध्यात्मकता का अंश ग्रहण कर लेती है, अभी-अभी शहरीकृत हुई आबादी के लिए झटके जैसा लगता है। और अपनी कृति *पैसेजेन वर्क* में जैसा कि बेंयामिन कहते हैं, बच्चों के लिए औद्योगिक उत्पाद ख़ुद प्रकृति सदृश होते हैं। कुछ वैसी ही बात भारत के नवाधुनिक नागरिकों के लिए भी कही जा सकती है। कम से कम जनस्मृति में, नए विश्वायन का पूर्व इतिहास/प्राक-इतिहास बहुत तेज़ी से विस्मृत हो गया प्रतीत होता है।

स्वयं वस्तु की छवि के संदर्भ में इसका क्या अर्थ है? दिल्ली शहर आज उत्तर भारत में नक़ली सामानों के उत्पादन के सबसे बड़े केंद्रों में से एक है। जैसे-जैसे विश्वायन का दायरा फैला है वैसे-वैसे नक़ली उत्पादों का उत्पादन भी फैला है। वैश्विक वस्तुओं तक शहरी ग़रीबों की जो पहुँच बनी है उसका ज़रिया टेलीविज़न या सड़कों पर लगे विज्ञापनों में वस्तुओं के प्रचार की बजाय दिल्ली के इलाक़े में बनने वाली इन वस्तुओं की नक़ली प्रतिकृतियाँ ही ज़्यादा रही हैं। पुनरुत्पादन और पैकेजिंग की नई तकनीकों ने राष्ट्रीय और वैश्विक कम्पनियों द्वारा बनाई जाने वाली वस्तुओं का पुनरुत्पादन संभव, सस्ता और सर्वव्यापी बना दिया है। साप्ताहिक अनौपचारिक बाज़ारों और छोटी-छोटी दुकानों के ज़रिए इन वस्तुओं का फैलाव हमारे दैनिक अनुभव में इस क़दर छा गया है जिसकी अतीत में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। वस्तु (कॉमॉडिटी) स्वरूप के प्रकृतिकरण का सबसे प्रखर रूप प्रतिकृतियों को देखने पर महसूस होता है। नई शहरी संस्कृतियों ने प्रतिकृति को इस तरह वैधता दी है जिससे पुराने स्मारकवाद की एकलता सुदूर अतीत की बात बन गई है। दैनिक जीवन के संदर्भ बिंदु के तौर पर प्रतिकृति राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों अभिजनों के लिए समस्या के रूप में सामने आती है। प्रतिरूपों का यह फैलाव हालाँकि पुनरुत्पादन के साधनों में आए गहरे प्रौद्योगिकीय बदलावों का सहउत्पाद है, परंतु हॉलीवुड से लेकर सिएटल तक और बंगलोर से लेकर टोकियो तक तमाम वैश्विक अभिजन मूल वस्तु की प्रतिकृति बनाकर उसे सड़कों तक मुहैया कराने की इस शक्ति के फ़र्ज़ी आधुनिकता के हाथों में केंद्रित हो जाने के ख़िलाफ़ मुहिम चलाते रहते हैं। पायरेसी-रोधी अभियान अब अंतर्राष्ट्रीय पूँजी की भाषा का हिस्सा बन चुके हैं और आने वाले सालों में क़ानूनन वैध वस्तुओं और उनकी ज़्यादा गतिशील नक़लों के बीच संघर्ष और तीखा होगा।

भारत में राज्य सत्ता के साकार के रूप में प्रौद्योगिकी का पुराना सपना जैसे-जैसे खंडित हुआ है वैसे-वैसे उसकी जगह राज्य के स्वाकार के रूप में इन्फ़ोटेक के मिथक ने ले ली है। राष्ट्र और आधुनिकता के इस नए प्रतीक और इसको एक स्मारक की बजाय भग्नावशेष के रूप में जन्म देने वाली शहर की प्रौद्योगिकीय रीति-नीतियों के बीच टकराव को देखते हुए यह साफ़ है कि अभी यह टकराव और बढ़ेगा। वैधानिकता इन्फ़ोटेक युटोपिया का केंद्रीय बिंदु है क्योंकि वैश्विक शहर क़ानूनी नियमन और नियंत्रण के बिना, पूँजी को आकर्षित करने का दम नहीं भर सकता है। परंतु जो शहर अनौपचारिक उत्पादन की संरचना के इर्द-गिर्द केंद्रित हैं वहाँ अवैधता और विकेंद्रण व वैधानिक आर्थिक व्यवस्था की संस्थाएँ ऐसी परिस्थितियों में शहरी परिक्षेत्र में व्यापक विस्थापन और स्थैतिक पुनर्गठन को जन्म देंगी। जो लाखों लोग अपने रोज़गार और ज़रूरत की चीज़ों तक पहुँच के लिए अवैधानिक परिक्षेत्रों पर निर्भर करते हैं, उनके जीवन पर इसके प्रभाव निस्संदेह दूरगामी और नकारात्मक होंगे। यह प्रक्रिया पहले ही शुरू हो चुकी हैः दिल्ली में सरकार ने मध्यवर्गीय सर्वोच्च न्यायालय के आदेशों के अंतर्गत हज़ारों अनौपचारिक कारख़ानों के ख़िलाफ़ कमर कस ली है। जनवरी 2001 से राजधानी दिल्ली में स्वतंत्रता के बाद आर्थिक जीवन के विस्थापन का सबसे बड़ा अभियान चलाया जा चुका है। इसमें छोटे-छोटे उद्योगों के हज़ारों-हज़ार कामगारों को बेरोज़गार कर दिया गया। यह वैधानिक विश्वायनवाद का नया चेहरा है।

अनुवादः योगेंद्र दत्त

टिप्पणियाँ

1. यह 1977 में बंद हो गया.
2. मैं इसे 'नया विश्वायन' इसलिए कहता हूँ क्योंकि भारत हमेशा से विश्व अर्थव्यवस्था का अभिन्न हिस्सा रहा है.